भाग्य का अभिप्राय

कुर्आन के प्रकाश में

मुफ़क्किरे इस्लाम डॉ० मौलाना सै० कल्बे सादिक साहब क़िब्ला

भाग्य, उन इस्लामी विषयों में से है जिसके बारे में न केवल प्राच्य विद भ्रम का शिकार है बल्कि स्वंय मुसलमान धर्माचार्यों की बहुसंख्या भी इस विश्वास के बारे में बड़े जटिल भ्रम से ग्रस्त है। जब धर्माचार्य ग़लतफहमी में हो तो मुस्लिम समाज का ग़लतफहमी में फंस जाना सर्वथा स्वाभाविक बात है।

भाग्य में विश्वास को प्राच्यविदों ने मुसलमानों की उन्नति का कारण भी ठहराया है और पतन का कारण भी बताया है। उनके मत से यही विश्वास था जिसने प्रारम्भ में मुसलमानों को उन्नति के शिखर तक पहुंचाया और फिर यही विश्वास था जिसने पिछले युग में इन्हें अवमानना के पाताल में गिरा दिया। "हरि इच्छा निर्जित होके रहेगी।" जो बदा है वो हो के रहेगा। "भाग्य विधाता के लिखे को कोई मेट नहीं सकता।" मौत का समय निश्चित है मौत अपनी बेला पर ही आयेगी। न कोई उसे ला सकता है न कोई उसे टाल सकता है। प्राच्यविदों के मत से इन्हीं विश्वासों ने मुसलमानों में वह जोश और उत्साह और निडरता पैदा कर दी कि वह बड़ी से बड़ी शक्ति से टक्कर लेने लगे और फिर आंधी के समान सिंध से यूरोप तक छाते चले गये। मगर बाद में इसी भाग्य के विश्वास ने नकारात्मक रूप धारण कर लिया। भाग्य के विश्वास का कथन कभी यह था कि जो ईश्वर चाहेगा वही होगा, कोई हमारा कुछ बिगाड़ नहीं सकता मगर बाद में इसका अर्थ यह ठहराया गया कि जो परमेश्वर चाहता है वही होता है। हम किसी का कुछ बिगाड़ नहीं सकते। इस नकारात्मक चिंतन शैली ने उनको सुस्त, आलसी और निराश्वादी बना दिया जो परिणास्वरूप मुसलमानों के पतन का कारण बन गया।

वास्तविकता यह है कि आज भी मुसलमानों की बहुसंख्या "तक़दीर" (भाग्य) की इस गलत कल्पना को अपना विश्वास बनाये हुये है "तक़दीर का शब्द सामान्य रूप से उर्दू में बोला जाता है और समझा जाता है। अरबी भाषा से अवगत व्यक्ति इसी कार्य को कभी "क़ज़ा व क़द्र" के शब्दों से भी अदा करते हैं। "तक़दीर" व "कद्र" का सम्बन्ध तो सुविधापूर्वक समझ में आ जाता है इसलिए कि तक़दीर की धातु क़द्र ही है। "कद्र" का अर्थ पैमाना (नाप या जोख का औजार या साधन, नपना) है, "मिक़दार" (मात्रा) भी इसी धातु से बना है। क़ज़ा का अर्थ हिन्दी भाषा में निर्णय है। इसी आधार पर अरबी में निर्णय करने वाले (जज) को "क़ाज़ी" कहा जाता है। पारिभाषिक रूप में "क़ज़ा" से तात्पर्य "क़ज़ा–ए–इलाही" लिया जाने लगा अर्थात "इलाही फैसला" और इस धातु में "क़ज़ा" भी "तक़दीर" का निकटार्थक शब्द घोषित कर दिया गया। दिलचस्प बात यह हुई कि "तक़दीर" "क़ज़ा व क़द्र" (भाग्य व ईश्वरीय निर्णय) को "जब्र" (बाध्यकारिता) का पर्यायबाची बना दिया गया। जब्रदिल–इसलामी सिद्धान्त (Dogmatic,इल्म–ए–कलाम) की एक परिभाषा है जिसके सामने "इख्तियार" का शब्द बोला जाता है। यही बाध्यता और छूट का प्रकरण इस्लामी सिद्धान्त शास्त्र का वह महिमामयी प्रकरण है जो इस्लाम के प्रारम्भिक युग से आज तक इस्लामी उलेमा में विवाद का विषय बना हुआ है और इस विषय पर इतना लिखा गया है कि शायद ही किसी अन्य विषय पर इतना लिखा गया हो। मनुष्य के बन्धित और विवश होने के विश्वास का सार यह है कि सृष्टिलोक में स्रष्टा की इच्छा सिक्का चला रहा ही है जो उसकी इच्छा होती है, वही होती है। जो उसकी जानकारी में है वह सृष्टिलोक में होकर रहता है और अचेतन सृष्टि की भांति मनुष्य भी अपनी "कथनी" करनी, आचरण और चिन्तन में पूर्णतया विवश है। छूट

और अधिकार (इख़्तियार) का सार यह है कि सृष्टिलोक की अचेतन सृष्टि निःसन्देह अपने विभिन्न चरणों में हरि इच्छा से बंधी हुयी है और पूर्णतया विवश है परन्तु मनुष्य को विवेक और बुद्धि दिये ही इसलिए गये हैं कि यह जो करे अपनी इच्छा से करे। अतएव मनुष्य की यह विशेषता है कि यह जो करता है अपनी इच्छा, अपने संकल्प और अपने अधिकार से करता है।

परन्तु तथ्य यह है कि पहला ही विश्वास मुसलमानों की बहुसंख्या में लोकप्रिय है। यहां तक कि बहुत से ग़ैर मुस्लिम प्राच्यविद इसे मुसलमानों का सर्वमान्य विश्वास समझने लगे हैं। कवियों ने भी इस मान्यता को हाथों हाथ लिया, उर्दू के सुख्यात अग्रणी कवि "मीर" ने कहा–

"नाहक़ हम मजबूरों पर ये तोहमत है मुख़्तारी की।
जो चाहें सो आप करे हैं हमको अबस बदनाम–किया।"

(मीर कहते हैं कि हम विवश जनों पर अधिकार सम्मत होने का लांछन अनायास लगाया जा रहा है। परमेश्वर जो चाहता है से सो आप करता है और व्यर्थ हमें बदनाम करता है।"

फ़ारसी का सुख्यात (मदिरा का कवि) ख़य्याम तो कुछ और आगे बढ़ गया और उसे जो कुछ कहा उसका भावार्थ यह है–

"मैं शराब पीता हूं और मदिरापान के नियमों से परिचित जन इस मदिरापान के औचित्य का मर्म जानते हैं। बात यह है कि मेरा शराबी होना ईश्वर के अनादि ज्ञान में था, अब अगर मैं शराब न पीता तो ईश्वर का ज्ञान, ज्ञान न रह कर अज्ञान बन जाता।"

दुर्भाग्य से पश्चिम निवासी प्राच्यविद दोहरे भ्रम का शिकार है। पहला भ्रम तो यह है उन्होंने भी "तक़दीर" या "क़ज़ा व क़द्र" को "जब्र" का पर्याय समझ लिया जबकि इन दोनों के अभिप्राय में पूरब–पश्चिम का अन्तर है। (जैसा कि आगे वर्णन किया जायेगा। दूसरा भ्रम यह है कि उन्होंने इस विश्वास को सारे मुसलमानों का सर्वमान्य विश्वास समझ लिया। यद्यपि शीआ समुदाय "जब्र" के विश्वास को नहीं मानता। निःसन्देह शीआ "तक़दीर" (भाग्य) के मानने वाले हैं। मगर उनके यहां तक़दीर का अभिप्राय वह नहीं है जो सामान्य मुसलमानों का उपरोक्त प्राच्यविद समझते हैं।

कठिनाइयां

यह विवाद आगे बढ़ेगा तो इसमें सिद्धान्त शास्त्र (dogmatics) की परिभाषायें आना आरम्भ हो जायेंगी जिनका उर्दूभिज्ञ वर्ग ही को समझाना कठिन है। हिन्दी में तो हमारी कठिनाई और बढ़ जायेगी। बहरहाल सद्यत्न किया जायेगा कि सरल से सरल भाषा में इन सूक्ष्म और पेंच भरे प्रकरणों पर वार्तालाप किया जाये।

विवाद के विचार बिन्दु

विचाराधीन प्रकरणों के तीन ही पक्ष सम्भव हैं। इनमें से प्रथम एवं द्वितीय जो पूर्णतया स्पष्ट हैं परन्तु तीसरा पक्ष स्पष्टीकरण के बिना समझ पाना दुष्कर है–

1–सृष्टि लोक में जो कुछ हो रहा है पहले से नियत कार्यक्रम के अन्तर्गत हो रहा है जिसमें न परिवर्तन लाया जा सकता है, न बदलाव उत्पन्न किया जा सकता है, सब पहले से नियत है, निर्धारित है। सृष्टिलोक में जो कुछ हो रहा है हरि इक्छा का कार्य संचालन है जिसका विरोध न किसी एक के वश में है और न समस्त सृष्टिलोक के वश में, न चैतन्य जीव के वश में न अचैतन्य जीव के वश में, वर्तमान पर भूत का आधिपत्य है और मनुष्य अपनी करनी, कथनी, आचरण और चिन्तन में विवश मात्र है जो हरि ने चाहा है वही यह सोचता है, कहता है, करता है।

2–ऐसा कोई कार्यकर्म पूर्व निर्धारित नहीं है। वर्तमान पर भूतकाल का कोई आधिपत्य नहीं है और मनुष्य अपनी करनी, कथनी और चिन्तन में पूर्णतया स्वतन्त्र और स्वाधीन है।

3–सृष्टिलोक की एक एक वस्तु चैतन्य और अचैतन्य, हरि इच्छा के सामने करबद्ध है और मनुष्य हो या ग़ैर मनुष्य सब उसके सम्पूर्ण नियन्त्रण में है परन्तु इस नियन्त्रण की शैली, इसका ढ़ंग ऐसा है कि इस नियन्त्रण के होते हुए भी इन्सान अपनी करनी, कथनी और चिन्तन में सर्वथा स्वतन्त्र है और यह नियन्त्रण उसकी स्वतन्त्रा और अधिकार की राह में बाधक नहीं।

क़ुर्आन मजीद

आइये देखें! क़ुर्आन पनीत, भाग्य के विश्वास के बारे में क्या फर्माता है। क़ुर्आन खोलते ही हमारी कठिनाईयों में वृद्धि हो जाती है क्योंकि क़ुर्आन महान की कुछ आयतें अगर पहले पक्ष के अनुमोदन में मिलती है तो कुछ दूसरी आयतें दूसरे पक्ष का समर्थन करती दिखती है। आयतों की संख्या बहुत अधिक है।

उदाहरण स्वरूप यहां केवल कुछ आयतें पेश की जाती हैं–

पहले पक्ष की समर्थक आयतें:

1–तुम कुछ चाहते ही नहीं जो चाहता है वह अल्लाह चाहता है।(1)

2–हे पैग़म्बर! कह दीजिए कि प्रत्येक बात अल्लाह ही के हाथ में है। (2)

3–अल्लाह जिसको चाहता है शासन देता है और जिससे चाहता है राज्य छीन लेता है, जिसको चाहता है, सम्मान देता है, जिसको चाहता है अपमानित करता है। (3)

4–अल्लाह जिसको चाहता है, सन्मार्ग दिखा देता है जिसको चाहता है भटकता छोड़ देता है। (4)

5–कोई विपत्ति धरती तक या तुम्हारे प्राणों तक नहीं पहुंचती मगर यह कि उसके प्रकट होने से पूर्व ही हम उसे एक पुस्तक में लिख चुके होते हैं। (5)

6–हमने प्रत्येक वस्तु को उसके भाग्य के साथ रचा है। (6)

7–उसने प्रत्येक वस्तु को रचा फिर उसको एक भाग्य के साथ संलग्न कर दिया। (7)

इस प्रकार की आयतों पर दृष्टि पड़ती है तो अनुभव होता है कि प्रत्येक वस्तु अल्लाह के हाथ में है, वह जो चाहता है वही होता है। धन, निर्धनता, सम्मान, अपमान का अर्जन मनुष्य के अधिकार में नहीं, वह जिसको चाहता है देता है। हमारा चिन्तन तक उसकी इच्छा से प्रतिबन्धित है, विपत्तियां पहले से अंकित है। विधाता ने प्रत्येक वस्तु को जन्म दे के उसका भाग्य नियत कर दिया है।

द्वितीय पक्ष की समर्थक आयतें:

1–परमेश्वर किसी जाति की दशा तब तक नहीं बदलता जब तक वह अपने को न बदले।''(8)

2–परमेश्वर किसी पर अन्याय नहीं करता। मनुष्य स्वंय अपने पर अन्याय करता है।(9)

3–जिसका मन चाहे ईमान (ईश्वर में निष्ठा) ग्रहण करे जिस कामन चाहे कुफ़्र (ईश्वर से इन्कार)। (10)

4–मनुष्य को वही मिलेगा जिसके लिये वह स्वंय प्रयत्नशील हो।(11)

5–हमने मनुष्य को मार्ग दिखा दिया अब चाहे वह (ईमान ग्रहण करके) कृतज्ञ हो जाये चाहे (कुफ़्र ग्रहण करके) कृतघ्न हो जाये। (12)

6–प्रत्येक मनुष्य अपनी कृतियों फंसा हुआ है। (13)

इन और इन सरीखी दूसरी आयतों से प्रकट होता है कि मनुष्य अपने कार्यों में पूर्णतया स्वतन्त्र है। वह अपनी दशा स्वंय बनाता है, बिगाड़ता है। वह अपने आप पर स्वंय अत्याचार करता है। ईमान और कुफ़्र (ईश्वर में निष्ठा और उससे विमुखता) सदाचरण और दुराचरण के चुनाव में पूर्णतया स्वतन्त्र है। जिस वस्तु के लिए यह प्रयत्न करे उसे प्राप्त हो जाती है। और यह अपनी सारी कृतियों के लिए उत्तरदायी है।

सारांश यह है कि प्रथम श्रेणी की आयतें मनुष्य के विवश होने को बताती हैं तो दूसरी श्रेणी की आयतें साधिकार और स्वतंन्त्र होने को। पहली श्रेणी की आयतें बताती हैं कि जो करता है, परमेश्वर करता है और दूसरी श्रेणी की आयतें बताती हैं कि जो कुछ करता है, वह मनुष्य स्वंय करता है।

यही ऊपर से देखने में परस्पर टकराती आयतें थीं जिनके आधार पर इस्लाम के प्रारम्भिक काल में ''जब्र और इख़्तियार'' का प्रकरण खड़ा हुआ और मुसलमान दो धड़ों में बंट गये। एक धड़ा ''जब्र'' को मानने लगा अर्थात जो कुछ होता है वह हरि इच्छा से होता है और मनुष्य विवश मात्र है, दूसरा धड़ा ''इख़्तियार'' को मानने लगा अर्थात जो कुछ करता है, वह इंसान खुद करता है, अपने संकल्प से करता है, अपने विवेकाधिकार से करता है फिर ''जब्र'' के मानने वाले उन आयतों का कुछ का कुछ अर्थ बताने पर विवश हो गये जिनसे मनुष्य का अधिकार सम्पन्न और स्वाधीन होना प्रकट होता था और ''इख़्तियार'' को मानने वाले व्यक्ति उन आयतों का कुछ और अर्थ बताने के लिए विवश हो गये जो मनुष्य के विवश होने को बता रही थी।

विचारणीय बात:

परन्तु जो बात सर्वाधिक विचारणीय है, वह यह कि क्या ईश्वरीय वाक्य में टकराव की स्थिति उत्पन्न हो सकती है! क्या क़ुर्आन की एक आयत दूसरी आयत के विपरीत हो सकती है। क्या यह बात संभव है कि क़ुर्आन की कुछ आयतें एक विचारधारा या विश्वास का समर्थन कर रही हों और दूसरी आयतें उसके सर्वथा विपरीत दूसरी विचारधारा या विश्वास का! ऐसी दशा में हमें क़ुर्आन के बारे में विश्वास और श्रद्धा को संभालने हेतु काले कोसों के सहीह मगर इधर उधर के स्पष्टीकरण का सहारा लेना होगा।

यह बात स्मरण रखना चाहिए कि परस्पर विरोधा और टकराव उद्‌गार में वही उत्पन्न होता है जहां वार्ताकार में या अज्ञान पाया जाता हो या भूल चूक। पालनकर्ता के पुनीत अस्तित्व में न अज्ञान को राह है न भूल चूक को। अतएव उसके कथन में परस्पर विरोधा या टकराव का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इसीलिए कुर्आन मजीद ने अपने ईश्वरीय वाक्य होने का प्रमाण ही यह बात ठहरायी है कि 23 वर्षों की अवधि में शनैः शनैः अवतरित होने वाले ग्रन्थ की कोई दूसरी आयत से कोई बात दूसरी बात से नहीं टकराती। ईश्वरीय वचन है कि अगर कुर्आन खुदा के सिवा किसी और का वाक् होता तो लोगों को इसमें पग–पग पर विभिन्नता दृष्टिगोचर होती। ईश्वरीय वाक् के वाक्यों का परस्पर टकराव सम्भावना सीमा से परे है परन्तु हुआ यह कि–

स्वत्न स्वपन फ़लों के बाहुल्य के और भी विश्वर गया।

"यह अस्त–व्यस्त मस्तिष्क वालों की अस्त व्यस्त धारणा थी जिसने स्वंय कुर्आन के अर्थ और उद्‌देश्यों को तितर बितर और अस्त व्यस्त कर दिया।

कुर्आन की आयतों में परस्पर विरोध का विश्लेषणः

किसी भी वाक्य में टकराव और परस्पर विरोध दो प्रकार का होता है। एक यह कि एक बात दूसरी बात का पूर्णतया स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से खण्डन कर रही हो जैसे "ज़ैद कल दिन 12 बजे बम्बई में था।" और "ज़ैद कल 12 बजे बम्बई में नहीं था।" अथवा जैसे "ज़ैद 1 मई सन् 86 को जीवित था।" एंव "जैद 1 मई सन् 86 को जीवित नहीं था।" इस प्रकार के वाक्यों में एक वाक्य दूसरे वाक्य को प्रत्यक्ष और स्पष्ट रूप से नकार रहा है। यह सर्वथा खुला हुआ परस्पर विरोध और टकराव है। परस्पर विरोध की दूसरी श्रेणी वह है जहां एक वाक्य दूसरे वाक्य की तो काट करता है, एक वाक्य दूसरे वाक्य का परस्पर विरोधी तो होता है! मगर यह टकराव और विरोध स्पष्ट और प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु एक बात का अनिवार्य निष्कर्ष दूसरे वाक्य को नकारता है। जैसे "मैं कल 12 बजे कलकत्ते में था और कल 12 बजे बम्बई में था। अमुक व्यक्ति 1 मई, 86 को जीवित नहीं था।" और अमुक व्यक्ति 1 मई 86 को खाना खा रहा था। 12 बजे कलकत्ते में होने का अनिवार्य फल यह है कि मैं उस समय बम्बई में नहीं था। खाना खाने का अनिवार्य फल यह है वह व्यक्ति उस समय जीवित था। ऐसे परस्पर विरोधी वाक्यों में प्रत्येक दशा में यह समाई होती है कि अनिवार्य फल यदि वास्तव में अनिवार्य फल होता है तो परस्पर विरोध सिद्ध रहता है। परन्तु यदि अनिवार्य फल ठीक नहीं होता तो परस्पर विरोध समाप्त हो जाता है।

दोनों प्रकार की कुर्आन मजीद की आयतों में जिनको ऊपर प्रस्तुत किया गया है पहले प्रकार का परस्पर विरोध नहीं पाया अपितु उनमें केवल दूसरे प्रकार का परस्पर विरोध पाया जाता है। इन आयतों में से कोई आयत किसी दूसरी आयत का ने प्रत्यक्ष खण्डन करती है न नकार रही है। अपितु एक आयत का अनिवार्यफल दूसरे को नकार रहा है। यह कहीं नहीं है कि एक आयत कहे कि प्रत्येक बात अल्लाह के हाथ में है, और दूसरी आयत कहे कि प्रत्येक बात अल्लाह के हाथ में नहीं है। एक आयत कहे जिसे चाहे अल्लाह सम्मान दे और जिसे चाहे अपमानित करे और दूसरी आयत कहे जिसे अल्लाह अपमानित नहीं कर सकता है। एक कहे कि मनुष्य विवश है। और दूसरी कहे कि विवश नहीं है। या यह कि एक आयत कहे कि प्रत्येक वस्तु ईश्वरीय ज्ञान में नहीं है अथवा यह कहे कि जो होता है हरि इच्छा से होता है और दूसरी आयत कहे कि प्रत्येक वस्तु हरि इच्छा से नहीं होती है।

इस प्रकार का प्रत्यक्ष परस्पर विरोध और टकराव इन आयतों में कदापि नहीं है, अपितु इन आयतों को देखकर मुसलमानों में "जब्र व इख़्तियार" का विवाद मात्र इसलिए चल निकला कि प्रत्येक कार्य के हरि इच्छा के अनुरूप होने की अनिवार्यता ही यह समझी गयी कि इन्सान विवश हो और किसी बात के ईश्वरीय ज्ञान में होने का प्रमाण ही यह माना गया कि मनुष्य चाहे या न चाहे वह बात होकर रहेगी। अन्यथा उमर ख़य्याम के कथनानुसार ईश्वरीय ज्ञान, बन जाएगा।

दूसरी ओर मनुष्यों के अपने आचरण, कार्यों और चिन्तनों में स्वतन्त्र होने का अनिवार्य फल ही यह समझा गया कि न पहले से किसी नियति का अस्तित्व था न पहले से कोई बात निश्चित थी। अपितु मनुष्य स्वंय अपना भाग्यविधाता है। इसी आधार पर दोनों धड़ों के कुर्आन के भाष्यकारों को कुर्आन की कुछ आयतें कुछ दूसरी आयतों के विरूद्ध दिखायी दीं और यह दोनों धड़े अपने अपने मत के अनुमोदन में इन आयतों का स्पष्टीकरण करने लगे जो उनके मत के

विरूद्ध जाती थी। भाष्य की किताबें इस प्रकार के स्पष्टीकरणों से पटी पड़ी हैं।

अब अगर हम यह मान के चलें कि कोई ऐसी स्थिति बन जाएगी कि अल्लाह के परिशुद्ध ज्ञान (Abrolute knowledge) और परिशुद्ध इच्छा (Abrolute will) और निर्णय और नियतिकरण और मनुष्य की स्वतन्त्रा व स्वाधीनता में पायी जाने वाली नकारात्मकता समाप्त हो जाये तो फिर न इन आयतों में टकराव शेष रहता है। न स्पष्टीकरण की आवश्यकता बचती है।

यथार्थ यह है कि यथार्थ यही है, न कुर्आनी आयतों में कोई परस्पर विरोध था न टकराव, यह भाष्यकारों और टीकाकारों के ज्ञान की कमी थी कि उनको इन आयतों में परस्पर विरोध दिखायी दिया और इन आयतों के परिकल्पित परस्पर विरोध को दूर करने के लिए उन्हें इधर उधर के स्पष्टीकरण का सहारा लेना पड़ा।

हुजूर का शुभ क7थन था कि ''मेरे पंथ का मतभेद वरदान है।'' इस मतभेद से हुजूर (स०) का अभिप्राय शास्त्रीय मतभिन्नता थी जो सदैव वहां पैदा होता है जहां बुद्धि जागरूक हो और जहां व्यक्ति विशेष या किसी समाज के दबाव के बिना केवल स्वतन्त्र और शास्त्रीय अनुसन्धान के आधार पर यथार्थ तक पहुंचने का सद्यत्न किया जाता हो अनुसन्धान स्वाधीन और शास्त्रीय होता है तो दृष्टिकोणों में विभिन्नता पैदा होती है, जब मत भिन्न होता है तो शास्त्रीय वाद–विवाद पैदा होते हैं, शास्त्रीय वाद–विवाद होते हैं तो चिन्तन का अभ्यास होता है, और चिन्तन का अभ्यास होता है तो चेतना में प्रगति होती है, चेतना में प्रगति होती है तो ज्ञान में वृद्धि होती है और ज्ञान में वृद्धि होती है तो समुदाय की मान–मर्यादा में भी वृद्धि होती है। यही मतभेद वह है जिसे हुजूर (स०) ने वरदान बताया है।

मगर यही मतभिन्न उस समय मसीबत बन जाता है जब ढंग अपमान जनक बन जाये, नीयतो पर हमले प्रारम्भ हो जायें, तर्कना के बजाय औछी बातें की जानें लगें, व्यक्तिगत बातों को बीच में लाया जाने लगे, व्यंग्य, कटाक्ष प्रारम्भ होने लगें और वार्ता का ढंग सकारात्मक होने के स्थान पर नकारात्मक हो जाये, अर्थात बल अपने मत की सत्यता सिद्ध करने पर न हो केवल दुसरे के मत को खंडित करने पर पूरी शक्ति लगा दी जाये।

दुर्भाग्य की बात यह है कि मुसलमानों में जब भी ऐसा वाद–विवाद चला है अधिकांशतः यही हुआ है कि वरदान वाले मतभेद की बजाए मुसीबत वाला मतभेद सामने आया है जिसका क्रम अर्थ अभी तक चल रहा है।

चुनान्चे क्षेपक स्वरूप सही परन्तु पाठको को ध्यान दिला दिया जाये कि मौलाना मन्जूर नोमानी और मौलाना अबुल हसन अली नदवी सरीखे विद्वानों की ओर से भी शीओं के विश्वासों के विरूद्व जो पुस्तकें जबरदस्त पूंजी से अभी हाल ही में प्रकाशित की गयीं हैं उनमें भी बहस का सारा बल विरोधी मत के खण्डन पर ही दिया गया है। अपने मत और पंथ की सत्यता पर नहीं। इस दशा में धर्म प्रचार कम और दिल दुखाना अधिक होता है, जबकि सकारात्मक तर्कना पद्वति में दिल दुखाने वाले आयाम कम हो जाते हैं परन्तु चूंकि नकारात्मक वार्ता पद्वति सदैव सहज होती है इसलिए सहजता प्रिय लोग इसी ढंग को अपनाया करते हैं।

संक्षेप में यह कि मुसलमानों में ''जब्र व इख़्तियार'' (स्वेच्छाकारिता एंव बाध्यकारिता) का विवाद चला तो यथा प्रथा दिशा नकारात्मक ही रही अर्थात प्रत्येक फ़रीक़ का बल दूसरे पक्ष के पथ को असत्य ही सिद्व करने पर रहा अपने पथ की सिद्वि पर नहीं रहा।

इस बहस को आगे बढ़ाने से पूर्व आवश्यक है कि मुसलमानों के मध्य सइ–ए–इस्लामी विश्वास के प्रसार के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत कर दिया जाये कि मनुष्य अपने आचरण में पूर्णतया विवश है वह जो भी करता है वह ईश्वर का कार्य होता है इस पृष्ठ भूमि से यह बात पूर्णतया उजागर हो जायेगी कि मुसलमानों के बीच यह मान्यता राजनैतिक स्वार्थ के आधार पर फैलायी गयी और सरकारों के दबाव ने मुसलमानों के बीच इस मान्यता को उभारा और फैलाया।

मुझे इस्लाम के प्रारम्भिक काल में तक़्दीर या क़ज़ा व कद्र (भाग्य और नियति) के अर्थ में कहीं भी प्रयोग होते नहीं मिले। तक़्दीर या क़ज़ा व क़द्र की व्याख्या ''जब्र'' (बाध्यकारिता) के रूप में पहली बार बनी उमैया के शासन काल में मिलती है।

स्पष्ट है कि इस अइस्लामी विश्वास को बनी उमैया सम्राज्य का संरक्षण प्राप्त होना चाहिए था क्योंकि इस विश्वास को ग्रहण कर लेने के उपरान्त

मनुष्य को इहलोक में न किसी प्रकार की स्वतन्त्रता प्राप्त है न अधिकार, जो करता है वह खुदा करता है। अन्याय एंव है अत्याचार के विरूद्व छोटे से छोटे प्रतिरोध के लिए द्वार बंद हो जाते हैं। यह विश्वास एक प्रकार से अत्याचारी शासन और उसके कार्यकर्ताओं के अत्याचारों के विरूद्व लोगों को लक़वाग्रस्त बना देने की उत्तम वैक्सीन थी।

एक ओर अत्याचारी सन्तुष्ट हो जाते हैं कि उनका अत्याचार और उत्पीड़न ही हरि–इच्छा है, दूसरी और पूंजीपति प्रसन्न थे कि उनकी धन दौलत हरि–इच्छा का चमत्कार है। यह तो स्वंय विधाता है जो किसी को रात की रोटी तक का मुहताज बना देता है और किसी को धनाढ्यता और सम्पन्नता से निहाल कर देता है। तीसरी ओर अन्याय पीडित, दीन, दुर्बल भी हरि–इच्छा पर सन्तोष किये रहते हैं कि जो हो रहा है वह हरि इच्छा से हो रहा है। अपनी दयनीय दशा पर आपत्ति ईश्वरीय निर्णय एंव हरि–इच्छा के प्रतिरोध के समान होगा।

यह विकृत विश्वास सत्ता के बल पर बड़े जोर शोर से मुसलमानों में फैलाया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मुसलमानों के बीच यह घातक विचार फैल गया कि अत्याचार के विरूद्व आवाज उठाना और प्रतिरोध करना व्यर्थ भी है और अइस्लामी भी। इसलिए कि जो कुछ हो रहा है वही हरि इच्छा और ईश्वरीय–निर्णय है और अइस्लामी इसलिए कि इस प्रतिरोध का अर्थ ही हरि–इच्छा पर आपत्ति करना। जबकि मुसलमान का कर्तव्य है कि हरि–इच्छा के समक्ष सदैव मानने और स्वीकार करने की स्थिति में रहे।

अहले–बैत के पथ ने इस विकृत और अइस्लामी मान्यता का घोर विरोध किया। न उनके पास सत्ता थी और न खरीदे हुए धर्माचार्य और हदीस शास्त्री, न अपनी बात के फैलाने के साधनों की प्रचुरता। बनी उमैया और बनी अब्बास के शासकों ने उनके साथ वही बर्ताव किया जो इससे पहले पैग़म्बरों के साथ उनके युग के ज़ालिम और अत्याचारी बादशाह करते रहे थे। मगर यह उनकी सत्यता का प्रभाव था और ज्ञान एंव तर्कना का बल था कि इस युग में भी इस विश्वास के विरूद्व आवाजें उठती रहीं। बनी उमैया के पास ज्ञान न था कि मिंबर (मंच) को इस काम में लाते ले देकर एक तलवार ही थी चुनांचे हर मर्तबा इसी का उपयोग किया गया।

चुनांचे पहले मअ्बद–ए–जुहनी ने इस विकृत विश्वास के विरूद्व प्रतिरोध किया तो उसको प्रसिद्व उमवी अत्याचारी प्रशासक हुज्जाज ने क़त्ल कर दिया। फिर शाम में ग़ैलान दमिश्की ने इसके विरूद्व जबान खोली तो हिशाम बिन अब्दुल मलिक के हुक्म से उसे मौत की नींद सुला दिया गया।

अहले–ए–बैत (अ०) ने इस विकृत विश्वास के विरूद्व इस सुदृढ़ता से मोर्चा लिया कि यद्यपि उनको गूमनामी के कोने में रखा गया लेकिन उनकी मान्यता घरों और बाजारों तक पहुंच ही गयी और जनसाधरण की जबान पर यह चढ़ गया कि ''जब्र और तश्बीह'' उमैय्या वालों का विश्वास है और ''अदल और तौहीद'' अली वालों का विश्वास है।

बहरहाल इस चुनौती के होते हुए भी शासन की ओर से ''जब्र'' के विश्वास का ज़ोर शोर से प्रचार प्रसार होता रहा और यह मत ''सरकारी मत'' ठहरा दिया गया खुली हुई बात है जो मत और विश्वास राजदरबार का होता है वही जनसामान्य में फैलाता है। सत्ता के गुणों ने भी इससे खूब–खूब लाभ उठाए। बनी उमैय्या के अत्याचारों की कठोरता के विरूद्व अगर संयोगवश कभी कोई आवाज़ उठी भी तो सत्ता के दलालों ने उसे यह कहकर चुप कर दिया कि जो हो रहा है हरि इच्छा से हो रहा है और यही विधि ा का विधान है। उस जमाने का ''कलिमा'' (मंत्र) यह वाक्य बन गया था कि ''हम भाग्य पर ईमान ला चुके चाहे वह भला हो चाहे बुरा।''

उमैय्या वंश के शासन का युग समाप्त हुआ और बनी अब्बास का काल प्रारम्भ हुआ तो अब्बासी बादशाहों ने अपने राजनैतिक लाभ को दृष्टिगत रखते हुये जहां उमैय्या वालों के सभी निशान चिन्ह मिटा दिये वहां जब्र सम्बन्धी विश्वास का भी प्रतिरोध किया। मगर ईश्वरीय न्याय और मानव स्वतन्त्रता का विश्वास अत्याचारियों को रास न आ सकता था। इसलिए मामून और मोअतसिम यद्यपि अपने युग में इख्तियार के पक्षधर दिखते हैं। मगर मुतवक्किल अब्बासी का युग आते ही जहां सारी अश्अरी मान्यताओं को सत्ता की सरपरस्ती मिली वहीं जब्र के विश्वास को भी सत्ता का समर्थन प्राप्त हो गया।

✦✦✦